Quest Journals
Journal of Research in Humanities and Social Science
Volume 14 ~ Issue 3 (March 2026) pp: 107-117
ISSN(Online):2321-9467
www.questjournals.org

Research Paper

परशुराम चतुर्वेदी का रचना कर्म : समाजशास्त्रीय पाठ

डॉ. विमल कुमार लहरी
एसोसिएट प्रोफ़ेसर,
समाजशास्त्र विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,वाराणसी

*Received 13 Mar., 2026; **R**evised 25 Mar., 2026; **A**ccepted 27 Mar., 2026 © The author(s) 2026.*
P**ublished with open access at **www.questjournals.org

सारांश

*परशुराम चतुर्वेदी का रचना कर्म हिंदी साहित्य, संत साहित्य सहित भारतीय समाज एवं संस्कृति के अध्ययन का महत्वपूर्ण बौद्धिक आधार है। उन्होंने संत साहित्य को धार्मिक या काव्यात्मक अभिव्यक्ति से इतर सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक चेतना और ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया से जोड़कर लोकजन के समक्ष रखा। इस दृष्टि से उनका लेखन साहित्य और समाज के मध्य गहरे अंतर्संबंधों को उजागर करता है। चतुर्वेदी ने संत परंपरा को **'लोक की आवाज'** के रूप में स्थापित करते हुए ज्ञान के लोकतंत्रीकरण की अवधारणा को स्थापित किया। साथ ही यह भी प्रत्युत किया कि संतों की वाणी में सामाजिक समता, मानवीय गरिमा, धार्मिक सहिष्णुता और आध्यात्मिक लोकतंत्र जैसे निहित मूल्य मध्यकालीन सामाजिक संरचना में एक वैकल्पिक सामाजिक दृष्टि का निर्माण करते हैं। उन्होंने लोक और शास्त्र के मध्य संवाद स्थापित कर यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया कि संस्कृति का निर्माण केवल अभिजात वर्ग नहीं करता, अपितु सामान्य लोकजन भी उसके सक्रिय हिस्सा होते हैं। चतुर्वेदी का लेखन भक्ति आंदोलन को सामाजिक चेतना के एक सांस्कृतिक दस्तावेज के रूप में प्रस्तुत करता है, जो बिना औपचारिक राजनीतिक ढांचे के भी वैचारिक परिवर्तन की भूमि तैयार करता है। उनका दृष्टिकोण सांस्कृतिक आदर्शवाद की वैचारिकी के साथ आगे बढ़ता है। उनका रचना कर्म हिंदी साहित्यालोचना को समाजशास्त्रीय संवेदनशीलता भी प्रदान करता है और अंत:विषय अध्ययन की दिशा में महत्वपूर्ण आधार निर्मित करता है। अतएव कहा जा सकता है कि चतुर्वेदी का रचना कर्म भारतीय समाज को समझने का एक सशक्त, समावेशी और समाजोन्मुख परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है।*

प्रस्तावना

हिंदी साहित्य एवं संत परंपरा सहित सामाजिक घटनाओं के समाजशास्त्रीय विश्लेषण में परशुराम चतुर्वेदी अग्रणी विद्वानों में सम्मिलित हैं। इन्होंने मध्यकालीन भक्ति आंदोलन को केवल धार्मिक आस्था अथवा काव्य-परंपरा तक सीमित न मानकर भारतीय समाज की संरचनात्मक गतिशीलता एवं परिवर्तन प्रक्रियाओं के सशक्त अरीसा के रूप में निरूपित किया। उनका लेखन यह भी संकेत देता है कि साहित्य मात्र सौंदर्यबोध की अभिव्यक्ति नहीं होता, अपितु वह समाज की अंतर्धाराओं, संघर्षों, आकांक्षाओं सहित परिवर्तनशील प्रक्रियाओं का संवाहक भी होता है। अस्तु, चतुर्वेदी का रचना कर्म समाजशास्त्रीय अध्ययन हेतु महत्वपूर्ण बौद्धिक आधार प्रस्तुत करता है। भारतीय इतिहास में भक्ति आंदोलन एक ऐसा कालखंड था जिसमें सामाजिक असमानताओं, धार्मिक रूढ़ियों और जातिगत विभाजनों के विरुद्ध एक वैचारिक चेतना के विकास को देखा जा सकता है (Damodaran, 1967; Sharma, 1965; Thapar, 2000)। भक्ति आंदोलन की यात्रा को परशुराम चतुर्वेदी ने अपने लेखन में सिर्फ़ आध्यात्मिक साधना तक सीमित नहीं रखा बल्कि उसे सामाजिक पुनर्संरचना की प्रक्रिया से जोड़ने का भी सार्थक प्रयास किया है। परशुराम चतुर्वेदी ने यह भी स्थापित किया कि तत्कालीन संत परंपरा की आवाज़ों में निहित समानता, मानवीय गरिमा, धार्मिक सहिष्णुता और आध्यात्मिक लोकतंत्र जैसे तत्व उस समय के समाज व्यवस्था में वैकल्पिक सामाजिक दृष्टि का निर्माण कर रहे थे। उनका रचना कर्म हमें यह समझने का भी अवसर देता है कि धार्मिक या सांस्कृतिक आंदोलनों को सामाजिक परिवर्तन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में कैसे पढ़ा जा सकता है।

चतुर्वेदी के रचना कर्म की यह भी विशेषता रही कि उन्होंने संत साहित्य को **'लोक की आवाज'** के रूप में स्थापित किया (Foucault,1980)। ग्राम्शी इसे **'सांगठनिक बुद्धिजीवी'**(Organic Intellectual) का नाम देता है (Gramsci, 1971)। बहुतायत पारंपरिक साहित्यिक इतिहास का केंद्र बिंदु अभिजात वर्ग की रचनात्मकता पर ही केंद्रित रहा है, लेकिन इन्होंने इससे इतर जनसाधारण की अनुभूतियों, लोक-भाषाओं सहित जीवन के अनुभवों को ज्ञान के वैध स्रोत के रूप में स्वीकार किया। इनका यह दृष्टिकोण वास्तव में **'ज्ञान के लोकतंत्रीकरण'** (Democratization of Knowledge) (Ambedkar, 1936) की ओर संकेत करता है और इस अवधारणा को स्थापित करता है कि संस्कृति के निर्माण में कुलीन वर्ग के साथ-साथ समाज के

हाशिये पर स्थित समुदाय की भी सक्रिय भागीदारी होती है। इस पक्ष का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन किया जाय तो परशुराम चतुर्वेदी का रचना कर्म भारतीय समाज की बहुलतावादी संरचना को समझने का एक सशक्त माध्यम है। परशुराम चतुर्वेदी ने संत परंपरा के अध्ययन के माध्यम से यह प्रतिपादित किया कि सामाजिक आलोचना केवल राजनीतिक आंदोलनों के जरिए ही नहीं, बल्कि लोकजन के सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के माध्यम से भी संभव होती है। उनकी वैचारिकी में लोक और शास्त्र, परंपरा और परिवर्तन तथा धर्म और समाज के बीच एक सतत संवाद दिखाई देता है (शुक्ल, 1928)।

अतएव कहा जा सकता है कि परशुराम चतुर्वेदी का रचना कर्म केवल साहित्यिक धरोहर नहीं, बल्कि भारतीय समाज की वैचारिक यात्रा का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। इसका समाजशास्त्रीय पाठ यह स्थापित करता है कि भक्ति आन्दोलन एवं संत साहित्य से उपजे विमर्श ने सामाजिक चेतना को स्वर दिया और एक अधिक समतामूलक तथा मानवीय समाज की कल्पना को बल प्रदान किया।

परशुराम चतुर्वेदी: जीवन यात्रा

परशुराम चतुर्वेदी हिंदी साहित्य के एक परिश्रमी विद्वान, गंभीर शोधकर्ता और प्रखर समीक्षक के रूप में प्रतिष्ठित रहे। आपका जन्म 25 जुलाई 1894 को उत्तर प्रदेश के बलिया जनपद में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा के पश्चात आपने इलाहाबाद और वाराणसी के प्रतिष्ठित शैक्षणिक केंद्रों से उच्च शिक्षा प्रात किया। चतुर्वेदी की पेशागत यात्रा वकालत से प्रारंभ हुई, परंतु उनकी बौद्धिक रुचि आध्यात्मिक और संत साहित्य की ओर अधिक रही। संस्कृत तथा हिंदी की अनेक उपभाषाओं पर आपका असाधारण अधिकार था, जिसने आपके शोध को गहराई और प्रामाणिकता मिली।

चतुर्वेदी का व्यक्तित्व अत्यंत सहज और आकर्षक था। वे सरल स्वभाव, स्नेहशीलता और सौहार्द के लिए जाने जाते थे। मध्यम कद-काठी, गौरवर्ण, इकहरे शरीर और सफेद घनी मूंछों से युक्त उनका व्यक्तित्व गरिमा और आत्मीयता का संतुलित रूप प्रस्तुत करता था। उनके मुखमंडल की बौद्धिक दीप्ति, मैत्रीभाव और मानवीय संवेदनशीलता को प्रकट करती थी। वे मूलतः एक अन्वेषी प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उन्होंने मानव चिंतन परंपराओं की खोज के उद्देश्य से भक्ति आंदोलन एवं संत परम्परा सहित संत साहित्य का गहन और व्यापक अध्ययन किया। उनका चिंतन मुक्त था, जिसके कारण वे किसी एक संप्रदाय या वैचारिक बंधन में सीमित रहना पसंद नहीं करते थे। **'उत्तरी भारत की संत परम्परा'** नामक इनकी पुस्तक इस पक्ष का जीवंत दृष्टांत है। हिंदी साहित्य में वे विकासवादी दृष्टिकोण के पक्षधर थे। उनकी विद्वत्ता का प्रभाव समकालीन विद्वानों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उनका जीवन मानवता के कल्याण और ज्ञान-विस्तार के प्रति समर्पित रहा। 3 जनवरी 1989 को एक महान लेखक को हमने हमेशा के लिए खो दिया।

सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

परशुराम चतुर्वेदी के रचना कर्म को समाजशास्त्रीय दृष्टि के सैद्धांतिक खाचें में रखकर देखें तो उनका रचना कर्म केवल साहित्यिक विश्लेषण तक सीमित नहीं है, अपितु सामाजिक संरचनाओं, सांस्कृतिक प्रक्रियाओं और वैचारिक परिवर्तन की जटिलताओं को भी उद्घाटित करता है। उनके रचना कर्म को बहु-दृष्टिकोणात्मक (Multi-Perspectival) परिप्रेक्ष्य में भी देखा जा सकता है, जो सांस्कृतिक समाजशास्त्र, संघर्ष सिद्धांत, सबाल्टर्न दृष्टिकोण तथा सामाजिक निर्माणवाद (Social Constructionism) जैसे परिप्रेक्ष्य को उद्घाटित करता है (Berger, & Luckmann,1966)। सांस्कृतिक समाजशास्त्र (Cultural Sociology) (Alexander, 2003) के संदर्भ में चतुर्वेदी का रचना कर्म यह दर्शाता है कि संस्कृति केवल परंपराओं का निष्क्रिय संग्रह नहीं है, बल्कि वह सामाजिक अर्थ-निर्माण की एक सक्रिय प्रक्रिया है। संत साहित्य के अध्ययन के माध्यम से उन्होंने यह स्पष्ट किया कि धार्मिक प्रतीक, लोकभाषाएँ और सामूहिक अनुभव समाज की नैतिक संरचना को आकार देते हैं। इस दृष्टि से संत परंपरा को एक ऐसी सांस्कृतिक प्रणाली के रूप में समझा जा सकता है, जो सामाजिक मूल्यों के पुनर्संयोजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

संघर्ष सिद्धांत (Conflict Theory) (Marx,1867) की दृष्टि से देखें तो संत साहित्य प्रभुत्वशाली सामाजिक संरचनाओं के विरुद्ध एक वैकल्पिक विमर्श प्रस्तुत करता है। जातिगत पदानुक्रम, धार्मिक आडंबर और सामाजिक बहिष्करण के विरुद्ध संतों की वाणी को प्रतीकात्मक प्रतिरोध (Symbolic Resistance) (Scott, 1985) के रूप में पढ़ा जा सकता है। यद्यपि चतुर्वेदी ने प्रत्यक्ष रूप से संघर्ष-परक भाषा का प्रयोग नहीं किया, फिर भी उनका विश्लेषण यह संकेत देता है कि भक्ति परंपरा सामाजिक वर्चस्व (Hegemony) (Gramsci,1971) को चुनौती देने वाली चेतना का संवाहक थी। सबाल्टर्न दृष्टिकोण (Subaltern Perspective) (Guha,1983) भी उनके लेखन को समझने में सहायक है। चतुर्वेदी ने संत साहित्य को **'लोक की आवाज'** के रूप में स्थापित कर उन समूहों की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति को वैधता प्रदान की, जो मुख्यधारा के इतिहास और साहित्य में प्रायः उपेक्षित रहे। यह दृष्टिकोण इतिहास-लेखन के अभिजात्य चरित्र को प्रश्नांकित करता है और ज्ञान के लोकतंत्रीकरण की ओर संकेत करता है। इसके अतिरिक्त, **सामाजिक निर्माणवाद** (Social Constructionism) (Berger, & Luckmann,1966) की अवधारणा यह समझने में मदद करती है कि सामाजिक यथार्थ स्थिर नहीं होता, बल्कि वह निरंतर मानवीय अंतःक्रियाओं और सांस्कृतिक व्याख्याओं के माध्यम से निर्मित होता है। संत परंपरा का चतुर्वेदी द्वारा किया गया पुनर्पाठ इस बात का उदाहरण है कि किस प्रकार सांस्कृतिक ग्रंथ सामाजिक पहचान, नैतिकता और सामूहिक चेतना के निर्माण में सक्रिय भूमिका निभाते हैं।

इस तरह इन सिद्धांतों की रूपरेखा यह स्थापित करती है कि चतुर्वेदी का रचना कर्म अंतःविषयता (Interdisciplinarity) का सशक्त उदाहरण है। उनका रचना संसार हमें यह समझने की बौद्धिक दृष्टि प्रदान करता है कि साहित्य, संस्कृति और समाज परस्पर अंतर्संबद्ध हैं, और इन्हें समग्रता में समझे बिना किसी भी सामाजिक परंपरा का यथार्थ विश्लेषण संभव नहीं है।

पद्धति

प्रस्तुत शोध-पत्र मुख्यतः गुणात्मक (Qualitative) और व्याख्यात्मक (Interpretative) पद्धति पर आधारित है, जिसका उद्देश्य परशुराम चतुर्वेदी के रचना कर्म में निहित सामाजिक आयाम, सांस्कृतिक प्रतीक सहित वैचारिक संकेतों को समझना है। यह दृष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित है कि सामाजिक यथार्थ केवल संरचनात्मक तथ्यों से नहीं, बल्कि उनके अर्थ-निर्माण की प्रक्रियाओं से भी निर्मित होता है (Schutz,1967; Weber,1978)। इस शोध पत्र में पाठ-विश्लेषण (Textual Analysis) को केंद्रीय विधि के रूप में अपनाया गया है। चतुर्वेदी की कृतियों और संत साहित्य पर उनकी टिप्पणियों का अध्ययन करते हुए यह समझने का प्रयास किया गया है कि वे भक्ति परंपरा की यात्रा को किस प्रकार सामाजिक संदर्भों से जोड़ते हैं। यहाँ पाठ को केवल साहित्यिक रचना न मानकर एक सामाजिक दस्तावेज (Social Document) (Taine, 1863) के रूप में दृष्टिगत किया गया है, जो अपने समय की सामाजिक चेतना, असमानताओं और सांस्कृतिक आकांक्षाओं को रेखांकित करता है। साथ ही, ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय पद्धति (Historical-Sociological Method) (Weber, 1930) का उपयोग करते हुए भक्ति आंदोलन और संत परंपरा को उनके ऐतिहासिक परिवेश-जैसे जातिगत संरचना, धार्मिक बहुलता और सांस्कृतिक अंतःक्रियाओं के भीतर समझा गया है। यह दृष्टिकोण स्पष्ट करता है कि सांस्कृतिक ग्रंथ न केवल अपने समय से प्रभावित होते हैं, अपितु सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका भी निभाते हैं।

परशुराम चतुर्वेदी का रचना कर्म: वैचारिक पृष्ठभूमि

परशुराम चतुर्वेदी का रचना कर्म बीसवीं शताब्दी के उस निर्णायक बौद्धिक कालखंड में विकसित हुआ जब भारतीय समाज औपनिवेशिक दासता से मुक्त होकर राष्ट्रीय पुनर्निर्माण, सांस्कृतिक आत्मबोध और ऐतिहासिक पुनर्परिभाषा की दिशा में अग्रसर था। देखा जाय तो यह समय राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ वैचारिक स्वायत्तता (Intellectual Autonomy) (Kant,784) की खोज का था, जिसमें भारतीय विद्वान एवं समाज वैज्ञानिक भारतीय ज्ञान परंपरा को पुनः समझने और उन्हें आधुनिक संदर्भों में स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे। इसी कड़ी में चतुर्वेदी नवजागरणकारी चेतना (Renaissance Consciousness) के प्रतिनिधि विद्वान के रूप में उभरते हैं। पचास और साठ के दशक में लिखित एवं संपादित उनकी कृतियों को बौद्धिक जागरण की सशक्त अभिव्यक्ति के रूप में देखा जा सकता है। उन्होंने हिंदी साहित्य को केवल काव्यात्मक या भाषिक अध्ययन तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक प्रक्रियाओं और ऐतिहासिक गतिशीलता से जोड़कर देखने की दृष्टि विकसित की। उनका लेखन साहित्य को समाज का दर्पण मानने वाली परंपरा को सुदृढ़ करता है। संत साहित्य के संदर्भ में उनका लेखन यह स्थापित करता है कि मध्यकालीन भक्ति परंपरा भारतीय समाज की नैतिक चेतना, सामाजिक प्रतिरोध और सांस्कृतिक समन्वय का महत्वपूर्ण स्रोत रही है। चतुर्वेदी ने संत परंपरा की यात्रा को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत कर उसे बौद्धिक वैधता प्रदान की। उन्होंने अपने अध्ययन से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि भक्ति आंदोलन की यात्रा में संतों की वाणी केवल आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति नहीं थी, अपितु वह सामाजिक असमानताओं, जातिगत विभाजनों और धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध एक वैचारिक हस्तक्षेप भी थी। इस दृष्टि से उन्होंने मध्यकालीन सांस्कृतिक चेतना को एक संगठित वैचारिक आधार प्रदान किया। उनका अकादमिक अवदान आधुनिक समाजशास्त्रीय विमर्शों- जैसे समानता, मानवीय गरिमा और सांस्कृतिक बहुलता से भी संवाद स्थापित करता दिखता है।

परशुराम चतुर्वेदी की महत्वपूर्ण कृति '**उत्तरी भारत की संत परंपरा**' (चतुर्वेदी,1951) भक्ति आंदोलन के सामाजिक और सांस्कृतिक आयामों सहित हाशिए की संत परम्परा को समझने का एक प्रामाणिक ग्रंथ है। इसी वैचारिक परंपरा को आगे बढ़ाते हुए **संत साहित्य की भूमिका** (चतुर्वेदी,1960), **संत काव्य धारा** (चतुर्वेदी,1951) तथा **भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ** (चतुर्वेदी,1962) जैसी कृतियों में उन्होंने संत साहित्य की ऐतिहासिक निरंतरता और लोक-आधार को रेखांकित किया। इन ग्रंथों से स्पष्ट होता है कि वे भक्ति आंदोलन से जुड़ी संत परंपरा को 'लोक की आवाज' मानते थे, जो सांस्कृतिक अभिव्यक्ति, सामाजिक असमानताओं और रूढ़ियों के विरुद्ध नैतिक प्रतिरोध का स्वर बनकर उभरती दिखती है। **कबीर साहित्य की परख,** (चतुर्वेदी, 1954) में चतुर्वेदी का आलोचनात्मक कौशल विशेष रूप से परिलक्षित होता है। इस कृति में उन्होंने कबीर की वाणी को सामाजिक यथार्थ से जोड़ते हुए जातिगत विभाजनों, धार्मिक आडंबरों और सामाजिक बहिष्करण पर गंभीर विमर्श प्रस्तुत किया। इसी प्रकार **मध्यकालीन प्रेम साधना** (चतुर्वेदी, 1954) तथा **भारतीय प्रेमाख्यान परंपरा** (चतुर्वेदी,1956) के माध्यम से उन्होंने भक्ति साहित्य में निहित प्रेम, समर्पण और आध्यात्मिक मानवीयता को सामाजिक समरसता के आधार के रूप में व्याख्यायित किया।

चतुर्वेदी की बौद्धिक व्यापकता **सूफी काव्य संग्रह** (चतुर्वेदी,1951) एवं **हिंदी के सूफ़ी प्रेमाख्यान** (चतुर्वेदी,1962)) जैसे कार्यों में भी दिखाई देती है, जहाँ उन्होंने सूफी और भक्ति धाराओं के अंतर्संबंधों को उजागर किया। यह दृष्टिकोण भारतीय संस्कृति की समन्वयकारी (Syncretic) प्रकृति को रेखांकित करता है और सांस्कृतिक बहुलता की अवधारणा को सुदृढ़ करता है। वहीं **मानस की राम कथा** (चतुर्वेदी,1953) में उन्होंने रामकथा को केवल धार्मिक आख्यान न मानकर सामाजिक नैतिकता, सांस्कृतिक आदर्शों और सामूहिक स्मृति के वाहक के रूप में देखा। चतुर्वेदी की संपादकीय प्रतिभा **हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास (सोलह भागों में संपादित)** (चतुर्वेदी,1968) जैसी विशाल परियोजना में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इसके संपादन के माध्यम से उन्होंने साहित्यिक परंपराओं को व्यवस्थित और सुलभ बनाया। यह कार्य हिंदी साहित्य के इतिहास को एक क्रमबद्ध स्वरूप प्रदान करने की दिशा में अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उनके निबंध-संग्रह **नव निबंध** (चतुर्वेदी,1951)**, साहित्य पथ,** (चतुर्वेदी, 1961) **चिंतन के आयाम और सांस्कृतिक निबंध** उनके आलोचनात्मक चिंतन और समाजोन्मुख दृष्टि को प्रतिबिंबित करते हैं। वहीं **वैष्णव धर्म** (चतुर्वेदी,1953)**, बौद्ध साहित्य** (चतुर्वेदी,1958)**, गृहस्थ जीवन और ग्राम सेवा** (चतुर्वेदी,192)**, हिंदी संत काव्य संग्रह** (चतुर्वेदी,1974) **तथा मीराबाई पदावली** (चतुर्वेदी,1966) जैसे अकादमिक रचना कर्म यह संकेत देते हैं कि धार्मिक परंपराओं को समझने के लिए उनके सामाजिक आधार और सांस्कृतिक प्रभावों का विश्लेषण आवश्यक है।

चतुर्वेदी ने कबीर के काव्य-रूपों जैसे पद, साखी और रमैनी का सूक्ष्म विश्लेषण कर उन्हें व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया। बाद में जिन विद्वानों ने कबीर को व्यापक ख्याति दिलाई, उनके कार्यों की आधारभूमि भी कहीं न कहीं चतुर्वेदी के शोध से ही निर्मित हुई। इस तरह कबीर को व्यापक बौद्धिक

प्रतिष्ठा दिलाने में उनका योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा। संत रैदास के पद गुरुग्रंथ साहिब में अंकित हैं, परन्तु उनकी वैचारिकी के सामाजिक परिप्रेक्ष्य कों परशुराम चतुर्वेदी ने स्थापित स्वरूप दिया। इस तरह **कबीर** एवं **रैदास** को लोक-परंपरा की सीमाओं से निकालकर विद्वानों के गंभीर विमर्श का विषय बनाने में चतुर्वेदी की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण दृष्टिगोचर होती है। इसी तरह **जयदेव, लादेव, नामदेव, वेणी, कमाल, दादू, धन्ना, सेन, सधना, त्रिलोचन जयदेव, लालदेव, नामदेव, पीपा, कमाल, धर्मदास, सूरतगोपाल, गुरुनानक देव, गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु हरगोविन्द, गुरु हरराय, गुरु हरेकृष्ण राय, गुरु तेगबहादूर, गुरु गोविन्द सिंह, वीर वन्दाबहादुर, जंमनाथ, शेखफरीद, सिंगाजी, भीपन जी, दलुदास, सन्तलाल दास, दादु दयाल, रज्जब जी, सुन्दरदास, गरीबदास, हरिदास, प्रागदास, राघवदास, साधु निश्चल दास, भगवानदास, तुलसीदास, सेवादास, बुलासाहब, गुलाल साहब, भीखा साहब, गोविन्द साहब, पलटू साहब, बाबा लाल, गुरुदेव चन्द, प्राणनाथ, छत्रसाल, जोगीदास, जगजीवन साहब, घासी दाष, धरणी दास, दरिया साहब, संत दुःखहरण, संत सुन्दर, संत रामचरण, बुल्ले शाह, मियाँ मीर, तुलसी साहब, डेढ़राज, लाला शिवदयाल सिंह, राय शालीग्राम साहब, ब्रमाशंकर मिश्र, कामता प्रसाद, जैमल सिंह और पलटू दास** जैसे अपेक्षाकृत कम परिचित संतों को खोजकर साहित्यिक जगत में प्रतिष्ठित किया। परशुराम चतुर्वेदी द्वारा इन संतों की वैचारिकी को लोकजन के बीच लाना संत साहित्य की यात्रा में एक क्रान्तिकारी क़दम था। जिसके कारण उन्हें संत साहित्य का पुरोधा कहा गया। मीराबाई पर उनके शोधकार्य भी अत्यंत महत्वपूर्ण रहे; इसके लिए उन्होंने व्यापक यात्राएँ कीं और ऐतिहासिक स्रोतों से संवाद स्थापित किया। बलिया क्षेत्र ने ही हजारी प्रसाद द्विवेदी और परशुराम चतुर्वेदी जैसे दो महान विद्वानों को जन्म दिया। जहाँ द्विवेदी को व्यापक प्रसिद्धि प्राप्त हुई, वहीं चतुर्वेदी ने विद्वता की ऊँचाइयों को स्पर्श किया। यदि उन्हें अपेक्षित ख्याति नहीं मिल सकी, तो इसे हिंदी जगत का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा, क्योंकि उनका बौद्धिक अवदान अत्यंत महत्वपूर्ण और स्थायी है।

परशुराम चतुर्वेदी द्वारा इन समस्त कृतियों सहित स्थापित एवं हाशिए के संतों की वैचारिक यात्रा को लोकजन के बीच लाना, सांस्कृतिक व्याख्या, ऐतिहासिक चेतना और समाजशास्त्रीय अंतर्दृष्टि का एक सुसंगठित प्रतिमान है। इस तरह उन्होंने साहित्य को अभिजात्य सीमाओं से मुक्त कर जनसांस्कृतिक अनुभवों से जोड़ा और यह प्रतिपादित किया कि किसी भी सांस्कृतिक आंदोलन को उसके सामाजिक संदर्भों से पृथक करके नहीं समझा जा सकता। अस्तु, अवधारणात्मक में कहा जा सकता है कि परशुराम चतुर्वेदी का रचना कर्म भारतीय समाज की बहुलतावादी संरचना, सांस्कृतिक निरंतरता और लोकतांत्रिक संभावनाओं को समझने का एक तथ्यपरक, प्रामाणिक और दीर्घकालिक बौद्धिक आधार है।

संत परंपरा एवं भक्ति आंदोलन : समाजशास्त्रीय पुनर्पाठ

परशुराम चतुर्वेदी का हिंदी साहित्य और भारतीय बौद्धिक परंपरा में सबसे महत्वपूर्ण योगदान 'उत्तरी भारत की संत परंपरा' प्रतिष्ठित है। उन्होंने संत साहित्य को केवल आध्यात्मिक अनुभवों या भक्तिकाव्य की भावनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसे सामाजिक संरचनाओं, शक्ति-संबंधों और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के संदर्भ में समझने का प्रयास किया। उनका यह अवदान संत परंपरा का एक गहन समाजशास्त्रीय पुनर्पाठ भी प्रस्तुत करता है। चतुर्वेदी ने कबीर, रैदास, दादू धन्ना, सेन, साधना, त्रिलोचन और नानक सहित संत परंपरा के स्थापित एवं हाशिए के संतों की वाणी का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट किया कि उनकी शिक्षाएँ अपने समय की सामाजिक विषमताओं के प्रति एक आलोचनात्मक चेतना का निर्माण करती हैं। संतों की वाणी में **जाति-आधारित सामाजिक स्तरीकरण** (Ambedkar, 1936; Béteille, 1965; Dumont, 1970; Ghurye, 1932; Singh, 1973; Srinivas, 1962, 1966) की तीखी आलोचना दिखाई देती है, जो उस काल की पदानुक्रमित सामाजिक व्यवस्था को चुनौती देती है। यह प्रतिरोध केवल वैचारिक नहीं था, बल्कि सामाजिक संबंधों के पुनर्संयोजन का संकेत भी देता था। इस संदर्भ में संत परंपरा को प्रति-अधिपत्यवादी (Counter hegemonic discourse) ((Vilfredo Pareto, 1935; Gaetano Mosca, 1939; Robert Michels, 1915) विमर्श के रूप में देखा जा सकता है, जिसने प्रभुत्वशाली संरचनाओं के समानांतर एक वैकल्पिक नैतिक-सामाजिक दृष्टि प्रस्तुत की।

भक्ति आंदोलन की यात्रा में हम देखें तो संतों ने कर्मकांड और बाह्याडंबरों का विरोध करते हुए धर्म के आंतरिक और अनुभवजन्य स्वरूप को स्वीकार किया। यह प्रवृत्ति धार्मिक प्राधिकार (Religious Authority) (Weber,1978) के केंद्रीकरण को कमजोर करती है और आध्यात्मिकता को अधिक लोकतांत्रिक बनाती है। संत परंपरा में धार्मिक प्राधिकार शास्त्रीय वैधता से हटकर करिश्माई और अनुभवजन्य आधार पर स्थापित होता है (Weber, 1922)। यह नैतिक समुदाय की पुनर्रचना करता है (Durkheim, 1912) तथा विद्यमान सामाजिक संरचना की वैधता को चुनौती देता है (Berger, 1967; Ambedkar, 1936)। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में इसे धर्म के विसंस्थागतकरण की प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है, जहाँ आध्यात्मिक अनुभव किसी विशेष वर्ग या संस्था तक सीमित नहीं रहता, अपितु जनसाधारण के लिए भी सुलभ हो जाता है। संत परंपरा का एक अन्य महत्वपूर्ण आयाम समानता और मानवीय गरिमा का आग्रह भी है। भक्ति आन्दोलन की यात्रा में संत परंपरा द्वारा व्यक्ति की सामाजिक पहचान को जन्म आधारित श्रेणियों से मुक्त कर उसकी मानवीयता के आधार पर परिभाषित करने का प्रयास किया गया। यह दृष्टिकोण सामाजिक समावेशन (Sen,1999) की उस अवधारणा को पुष्ट करता है, जो आधुनिक समाजशास्त्र का एक केंद्रीय मूल्य है। साथ ही, आध्यात्मिक लोकतंत्र की धारणा यह भी स्पष्ट करती है है कि ईश्वर तक पहुँचने का अधिकार सभी को समान रूप से है। इस तरह इस विचार को सामाजिक लोकतंत्र की सांस्कृतिक पूर्वपीठिका के रूप में भी देखा जा सकता है।

चतुर्वेदी ने अपने रचनाकर्म के माध्यम से यह भी स्थापित किया कि संत साहित्य वस्तुतः उन समूहों की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति है जो मुख्यधारा की सामाजिक संरचना में हाशिये पर स्थित थे। अतएव संत परंपरा संत वाणी को निम्नवर्गीय चेतना की अभिव्यक्ति के रूप में समझा जा सकता है, जहाँ वंचित समुदाय अपने अनुभवों, पीड़ाओं और प्रतिरोध को सांस्कृतिक भाषा प्रदान करते हैं। इस पक्ष को सबाल्टर्न अध्ययन अध्ययन के अंतर्गत देखा जा सकता है। सबाल्टर्न अध्ययन सत्ता-केन्द्रित इतिहासलेखन की आलोचना करते हुए हाशिए के समूहों की स्वायत्त चेतना को रेखांकित करता है (Guha, 1982)। ग्रैम्शी (1971) के अनुसार प्रभुत्वशाली वर्ग वैचारिक वर्चस्व के माध्यम से अधीनस्थ वर्गों की आवाज़ को नियंत्रित करता है। (Marx & Engels,1970) यद्यपि चतुर्वेदी का लेखन सबाल्टर्न अध्ययन के औपचारिक विकास से पूर्व का है, फिर भी उनका दृष्टिकोण इस बात को पुष्ट करता है

कि इतिहास और संस्कृति को समझने के लिए हमें उन आवाज़ों की ओर भी ध्यान देना चाहिए जो लंबे समय तक उपेक्षित रही हैं। अतः चतुर्वेदी के संत परम्परा के अध्ययन का समाजशास्त्रीय पुनर्पाठ यह स्पष्ट करता है कि भक्ति आंदोलन केवल धार्मिक आंदोलन नहीं था, अपितु सामाजिक आलोचना, सांस्कृतिक पुनर्निर्माण और वैकल्पिक सामाजिक कल्पना का एक सशक्त माध्यम भी था। चतुर्वेदी का यह दृष्टिकोण साहित्य और समाज के अंतर्संबंधों को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण वैचारिक आधार प्रदान करता है। साथ ही यह स्थापित करता है कि सांस्कृतिक परंपराएँ भी सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभाती हैं।

लोक और शास्त्र के मध्य सेतु

परशुराम चतुर्वेदी के रचना कर्म का समाजशास्त्रीय आयाम लोक और शास्त्र के मध्य संवाद स्थापित करने का प्रयास है। भारतीय ज्ञान-परंपरा में **'शास्त्र'** को आधिकारिक, प्रमाणिक और उच्चतर ज्ञान का प्रतिनिधि माना गया, जबकि **'लोक'** को अनुभवजन्य, अनौपचारिक और अपेक्षाकृत निम्न श्रेणी का समझा गया। यह विभाजन केवल बौद्धिक नहीं था, बल्कि सामाजिक शक्ति-संरचनाओं से भी जुड़ा हुआ था, जहाँ ज्ञान का नियंत्रण प्रायः अभिजात वर्ग (Bourdieu, 1984; Mills, 1956; Mosca, 1939; Pareto, 1935) के हाथों में केंद्रित रहा। चतुर्वेदी ने इस पदानुक्रम को चुनौती देते हुए अपने रचना कर्म के माध्यम से जिसमें ख़ासकर हाशिए की संत परम्परा की वैचारिकी को लोकजन के समक्ष रखकर यह स्थापित किया कि लोकानुभव भी उतना ही वैध, सार्थक और ज्ञानात्मक है जितना शास्त्रीय विमर्श। उनकी दृष्टि में संत परंपरा वह **'सांस्कृतिक स्थल'** (Bourdieu, 1984; Foucault, 1986) है जहाँ लोक और शास्त्र का अंतःसंवाद संभव होता है। संत परंपरा द्वारा लोकभाषाओं में अपनी बात रखकर ज्ञान को संस्कृतनिष्ठ अभिजात्य सीमाओं से बाहर निकालकर व्यापक सामाजिक समुदाय तक पहुँचाया। यह प्रक्रिया ज्ञान के वि-अभिजात्यीकरण (De-elitization) का एक प्रमुख दृष्टांत है, जिसमें बौद्धिक संसाधनों पर एकाधिकार कमजोर पड़ता है और सामाजिक भागीदारी का दायरा विस्तृत होता है। जिससे ज्ञान अधिक समावेशी और सहभागितामूलक बनता है।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में ज्ञान केवल सूचना या विचारों का संग्रह नहीं होता, बल्कि वह सामाजिक वास्तविकताओं के निर्माण और वैधता प्रदान करने की प्रक्रिया का हिस्सा होता है। जब लोकानुभव को ज्ञान के रूप में स्वीकार किया जाता है, तब सामाजिक यथार्थ की व्याख्या अधिक बहुलतावादी (Pluralistic) और प्रतिनिधिक (Representative) बनती है। इस तरह चतुर्वेदी अप्रत्यक्ष रूप से यह स्थापित करते हैं कि ज्ञान का उत्पादन एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें विविध वर्गों और समुदायों की सक्रिय भूमिका होती है। चतुर्वेदी का यह दृष्टिकोण ज्ञान के लोकतंत्रीकरण (Democratization of Knowledge) (Freire,1970) की अवधारणा को सशक्त करता है। इसके अतिरिक्त, उनका रचना कर्म यह भी स्पष्ट करता है कि संस्कृति का निर्माण केवल अभिजात वर्ग (Pareto,1935) द्वारा संचालित प्रक्रिया नहीं है, अपितु सामान्य लोकजन अपने श्रम, अनुभव, विश्वास और प्रतीकों के माध्यम से सांस्कृतिक संरचना के सह-निर्माता (Co-creators of culture) होते हैं। अर्थात् अधीनस्थ वर्ग भी सांस्कृतिक अर्थों के सक्रिय सह-निर्माता होते हैं (Gramsci, 1971; Williams, 1958)। संत परंपरा एवं उनका अकादमिक अवदान इस सामूहिक सांस्कृतिक चेतना का सशक्त उदाहरण है, जहाँ लोकजीवन की संवेदनाएँ और दार्शनिक गहराई एक साथ अभिव्यक्त होती हैं।

अतएव अवधारणात्मक रूप में कहा जा सकता है कि लोक और शास्त्र के बीच सेतु निर्माण का चतुर्वेदी का प्रयास केवल साहित्यिक पुनर्मूल्यांकन नहीं, बल्कि ज्ञान-सत्ता (Knowledge-power nexus) (Foucault, 1980) की पुनर्संरचना का संकेत भी है। साथ ही उनका दृष्टिकोण हमें यह भी समझने में सहायता देता है कि जब ज्ञान अधिक लोकतांत्रिक बनता है, तब समाज में सांस्कृतिक समानता और वैचारिक गतिशीलता के नए आयाम खुलते हैं।

भक्ति आंदोलन : सामाजिक चेतना का दस्तावेज

परशुराम चतुर्वेदी के रचना कर्म का विश्लेषण करें तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि मानव सभ्यता की यात्रा में भक्ति आंदोलन केवल एक धार्मिक प्रवाह नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना का ऐतिहासिक दस्तावेज है। उन्होंने संत साहित्य का विश्लेषण करते हुए यह भी स्पष्ट किया कि भक्ति परंपरा ने भारतीय समाज में वैचारिक जागरण, नैतिक पुनर्संरचना और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की प्रक्रिया को गति प्रदान की। इस दृष्टि से भक्ति को समझना दरअसल उस सामाजिक मनोभूमि को समझना है, जहाँ परिवर्तन की संभावनाएँ सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के माध्यम से आकार लेती हैं। चतुर्वेदी ने भक्ति आंदोलन की यात्रा से जुड़े संतों की वाणी में निहित सामाजिक समता के विचार को विशेष महत्व दिया। मध्यकालीन भारतीय समाज कि सामाजिक संरचना कठोर जातिगत पदानुक्रम और सामाजिक बहिष्करण की संरचनाओं से संचालित थी, जहाँ जन्म आधारित असमानताएँ सामाजिक गतिशीलता को सीमित करती थीं। (Habib,1963) संतों ने इस संरचना को चुनौती देते हुए व्यक्ति की पहचान को उसकी मानवीयता के आधार पर पुनर्परिभाषित करने का प्रयास किया। यह प्रवृत्ति समाजशास्त्रीय दृष्टि से समतावादी सामाजिक कल्पना (Egalitarian Social Imagination) (Mills, 1959) का निर्माण करती है- एक ऐसी वैकल्पिक सामाजिक कल्पना, जिसमें समानता केवल आदर्श नहीं, बल्कि नैतिक अनिवार्यता बन जाती है।

धार्मिक सहिष्णुता भक्ति आंदोलन का एक अन्य केंद्रीय तत्व था, जिसे चतुर्वेदी ने सामाजिक एकीकरण (Social Integration) (Durkheim,1951) की प्रक्रिया से जोड़कर लोकजन के समक्ष रखा। तत्कालीन संत परंपरा ने संप्रदायगत सीमाओं से परे ईश्वर की सार्वभौमिक अवधारणा पर विशेष बल दिया, परिणामस्वरूप धार्मिक पहचान की कठोरता में शिथिलता आई। यह प्रवृत्ति समन्वयात्मक संस्कृति (Syncretic Culture) (Bose, 1953) के विकास की ओर संकेत करती है, जहाँ विविध धार्मिक परंपराएँ परस्पर संवाद के माध्यम से सह-अस्तित्व का मार्ग प्रशस्त करती हैं। परिणामस्वरूप, समाज में वैमनस्य के स्थान पर सहअस्तित्व और पारस्परिक सम्मान की भावना को बल मिला। संत परंपरा की यात्रा में सामुदायिक सद्भाव की अवधारणा गहराई से देखा जा सकता है। जहाँ संतों ने अपनी वाणी के माध्यम से सामूहिकता (Collectivity) और साझा नैतिकता (Shared Morality) की भावना को प्रोत्साहित किया, जिससे सामाजिक संबंधों में सहयोग, योगदान और पारस्परिकता (Reciprocity) के वैचारिकी का विस्तार

हुआ। साझा नैतिकता सामाजिक एकजुटता का आधार है और समाज के सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करती है (Durkheim, 1912) आधुनिक समाज में यह नैतिक सहमति संवादात्मक प्रक्रियाओं के माध्यम से निर्मित होती है (Habermas, 1984)। देखा जाय तो यह प्रक्रिया सामाजिक पूँजी (Social capital) के निर्माण से भी जुड़ी हुई है, क्योंकि जब समुदायों के बीच विश्वास और संवाद बढ़ता है, तब समाज अधिक स्थिर और समन्वित बनता है।

चतुर्वेदी ने भक्ति आंदोलन एवं संत परंपरा की यात्रा को **नैतिक पुनर्जागरण** (Moral Regeneration) की प्रक्रिया के रूप में भी देखा। जहाँ वे पाते हैं कि संतों ने बाह्याडंबर, कर्मकांड और धार्मिक आडंबरों की आलोचना करते हुए आंतरिक शुचिता, करुणा और सत्यनिष्ठा जैसे मूल्यों पर बल दिया। संत परंपरा के यह प्रवृत्ति सामाजिक जीवन में **नैतिक वैधता** (Moral Legitimacy) (Weber, 1978) को पुनर्स्थापित करती है। किसी भी सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता उसकी वैधता पर निर्भर करती है (Weber, 1922). जब संस्थाएँ न्याय और निष्पक्षता के सिद्धांतों का उल्लंघन करती हैं, तो उनकी नैतिक वैधता संदिग्ध हो जाती है (Rawls, 1971; Ambedkar, 1936)। यह अवधारणा इस बात पर बल देती है कि स्थायी सामाजिक परिवर्तन केवल संरचनात्मक स्तर पर नहीं, बल्कि नैतिक चेतना के स्तर पर भी घटित होता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से मुल्यांकन करें तो भक्ति आंदोलन की यात्रा एक **'सांस्कृतिक सामाजिक आंदोलन'** (Cultural Social Movement) के रूप में रही है। सांस्कृतिक सामाजिक आंदोलन केवल राजनीतिक संघर्ष नहीं, बल्कि सांस्कृतिक अर्थों और पहचान के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया भी है (Gramsci, 1971; Melucci, 1989; Touraine, 1981). भारतीय संदर्भ में दलित और भक्ति आंदोलन को इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है (Ambedkar, 1936; Guha, 1982; Omvedt, 1994)। यह आंदोलन पारंपरिक राजनीतिक आंदोलनों की तरह संगठित या संस्थागत नहीं था, फिर भी इसने जनमानस में वैचारिक परिवर्तन की उर्वरा भूमि ज़रूर तैयार किया। भक्ति आन्दोलन की संत परम्परा ने विवेचनात्मक प्रतिरोध (Discursive Resistance) का कार्य किया-अर्थात प्रभुत्वशाली सामाजिक संरचनाओं के विरुद्ध वैकल्पिक विमर्श का निर्माण (Foucault, 1980; Scott, 1990) किया। इस प्रकार भक्ति आंदोलन ने सामाजिक परिवर्तन की उस प्रक्रिया को जन्म दिया, जिसे **'निःशब्द परिवर्तन'** (Silent Transformation) (Jullien, 2011) कहा जा सकता है, जहाँ बदलाव प्रत्यक्ष राजनीतिक संघर्ष से नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्परिभाषा के माध्यम से घटित होता है। सामाजिक परिवर्तन हमेशा प्रत्यक्ष संघर्ष के माध्यम से नहीं होता; कई बार सांस्कृतिक और वैचारिक स्तर पर मौन रूपांतरण के रूप में घटित होता है (Gramsci, 1971; Giddens, 1984).

चतुर्वेदी का उपरोक्त विश्लेषण इस तथ्य को स्थापित करता है कि भक्ति आंदोलन भारतीय समाज में सामाजिक चेतना के विस्तार का एक सशक्त शंखनाद था। भक्ति आंदोलन के बिना किसी औपचारिक राजनीतिक ढाँचे के भी वैचारिक परिवर्तन की ऐसी भूमि तैयार की, जिसने समानता, सहिष्णुता और मानवीय गरिमा जैसे मूल्यों को सामाजिक जीवन का हिस्सा बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। चतुर्वेदी यह भी स्थापित करते हैं कि भक्ति केवल आध्यात्मिक मुक्ति का मार्ग नहीं थी, अपितु एक अधिक न्यायपूर्ण, समावेशी और मानवीय समाज की सांस्कृतिक रूपरेखा भी थी।

सांस्कृतिक स्मृति और पहचान का निर्माण

परशुराम चतुर्वेदी के रचना कर्म को साहित्यिक विश्लेषण के साथ-साथ सांस्कृतिक स्मृति (Cultural Memory) (Assmann, 2011) के संरक्षण और पुनर्स्थापन के एक महत्वपूर्ण बौद्धिक उपक्रम के रूप में देखा जा सकता है। उन्होंने संत परंपरा की यात्रा को व्यवस्थित रूप से दस्तावेजीकृत कर उन वैकल्पिक सांस्कृतिक धाराओं को ऐतिहासिक मान्यता प्रदान की, जो प्रायः औपचारिक इतिहास-लेखन में उपेक्षित रही थीं। इस प्रकार उनका कार्य स्मृति और इतिहास के मध्य सेतु का निर्माण करता है। उनका लेखन यह भी दृष्टिगत करता है कि किसी समाज की पहचान उसके अतीत की सामूहिक स्मृतियों से गहराई से निर्मित होती है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से सांस्कृतिक स्मृति केवल अतीत का संकलन नहीं होती, बल्कि वह एक जीवंत प्रक्रिया है जिसके माध्यम से समाज अपने अनुभवों, मूल्यों और प्रतीकों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित करता है। चतुर्वेदी ने संत साहित्य को इसी जीवंत परंपरा के रूप में देखा, जो एक ऐसी परंपरा जिसमें सामाजिक प्रतिरोध, नैतिक चेतना और मानवीय समानता के विचार संरक्षित हैं। संतों की वाणी को व्यवस्थिति लेखन स्वरूप देकर उन्होंने उस सामूहिक स्मृति (Collective Memory) को संस्थागत आधार प्रदान किया, जो अन्यथा मौखिक परंपराओं के साथ धीरे-धीरे विस्मृत हो सकती थी। यह प्रयास सांस्कृतिक निरंतरता (Cultural Continuity) (Giddens, 1984) को बनाए रखने की दिशा में अत्यंत महत्वपूर्ण है।

चतुर्वेदी का दृष्टिकोण इस तथ्य को भी रेखांकित करता है कि स्मृति का निर्माण एक सामाजिक प्रक्रिया है, जो शक्ति-संबंधों (Power Relations) से प्रभावित होती है। शक्ति-संबंधों को समझने के लिए Weber (1922), Gramsci (1971), Foucault (1980) और Bourdieu (1991) के विश्लेषण महत्वपूर्ण हैं। प्रायः प्रभुत्वशाली वर्ग अपनी परंपराओं को इतिहास का हिस्सा बना लेते हैं, जबकि हाशिए के समुदायों की सांस्कृतिक विरासत उपेक्षित रह जाती है। हाशिए की संत परंपरा को केंद्र में लाकर चतुर्वेदी ने इस असंतुलन को चुनौती दी और एक अधिक **'समावेशी ऐतिहासिक चेतना'** (Inclusive Historical Consciousness) के निर्माण में योगदान दिया। अस्तु, उनका यह अवदान **'प्रतिरोध के रूप में स्मृति'** (Memory as Resistance) (Foucault,1977) की अवधारणा को स्थापित करता है, जहाँ स्मृति स्वयं वर्चस्वशाली आख्यानों के विरुद्ध एक वैकल्पिक विमर्श बन जाती है। स्मृति केवल अतीत का संग्रह नहीं, बल्कि सत्ता-निर्मित इतिहास के विरुद्ध प्रतिरोध का माध्यम भी है (Halbwachs, 1992; Foucault, 1980). अधीनस्थ समूह अपनी सांस्कृतिक स्मृतियों के माध्यम से **'छिपे हुए विमर्श'** का निर्माण करते हैं (Scott, 1990)। दृष्टिगत है कि जब जीवंत परंपरा क्षीण होती है, तो समाज स्मृति के माध्यम से अपनी पहचान बचाता है (Nora, 1989)।

समकालीन समाजशास्त्र में पहचान (Identity) का प्रश्न अत्यंत केंद्रीय है, क्योंकि वैश्वीकरण, आधुनिकीकरण और सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रियाओं ने पारंपरिक पहचान-रूपों को पुनर्परिभाषित किया है। ऐसे समय में चतुर्वेदी का लेखन यह समझने में सहायता करता है कि ऐतिहासिक परंपराएँ आधुनिक सामाजिक पहचान के निर्माण में कैसे सक्रिय भूमिका निभाती हैं। संत साहित्य में निहित समानता, आध्यात्मिक लोकतंत्र और सामाजिक न्याय जैसे मूल्य आज भी सामूहिक पहचान के नैतिक आधार के रूप में कार्य कर सकते हैं। इस प्रकार अतीत केवल स्मरण का विषय नहीं रहता, बल्कि

वर्तमान की **'सामाजिक आत्म-समझ'** (Social self-Understanding) (Giddens, 1991; Taylor, 1989) को भी दिशा देता है। इसके अतिरिक्त, चतुर्वेदी ने अपनी रचना कर्म के माध्यम से यह भी स्थापित किया कि पहचान कोई स्थिर या अपरिवर्तनीय इकाई नहीं है; बल्कि यह निरंतर पुनर्निर्मित (Socially Constructed) होती रहती है। जब समाज अपनी सांस्कृतिक स्मृतियों की पुनर्व्याख्या करता है, तब वह अपने वर्तमान को भी नए अर्थ प्रदान करता है। संत परंपरा का पुनर्पाठ इस प्रक्रिया का उदाहरण है, जहाँ ऐतिहासिक अनुभव समकालीन सामाजिक मूल्यों के साथ संवाद स्थापित करते हैं। यह प्रवृत्ति पहचान को अधिक बहुलतावादी (Pluralistic) और संवादपरक (Dialogic) बनाती है।

अस्तु, अवधारणात्मक रूप में कहा जा सकता है कि चतुर्वेदी का लेखन सांस्कृतिक स्मृति के संरक्षण के साथ-साथ सामाजिक पहचान के वैचारिक आधार को भी सुदृढ़ करता है। उन्होंने यह स्थापित किया कि किसी समाज की आत्मचेतना उसके सांस्कृतिक अतीत से पोषित होती है, और जब उस अतीत को समावेशी दृष्टि से पुनर्पाठित किया जाता है, तब एक अधिक न्यायपूर्ण और साझा सामाजिक पहचान का निर्माण संभव होता है। इस तरह उनका रचना कर्म केवल इतिहास का पुनर्स्मरण नहीं, बल्कि सामाजिक आत्मबोध और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की सतत प्रक्रिया का सशक्त उदाहरण है।

हिंदी साहित्यालोचना में परशुराम चतुर्वेदी का स्थान

परशुराम चतुर्वेदी को हिंदी साहित्यालोचना की परंपरा में एक विशिष्ट और प्रभावशाली व्यक्तित्व के रूप में प्रतिष्ठिता प्राप्त हैं। उन्होंने साहित्य को काव्य-सौंदर्य या भाषिक संरचना के आधार पर परखने की परंपरा से आगे बढ़कर सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संदर्भों में समझने का मार्ग प्रशस्त किया। इसी परिप्रेक्ष्य में उनका योगदान हिंदी आलोचना को अधिक व्यापक, संवेदनशील और समाजोन्मुख बनाने में अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है। हिंदी साहित्यालोचना के विकासक्रम में प्रारंभिक आलोचना प्रायः ऐतिहासिकता और ग्रंथ-केन्द्रित अध्ययन तक सीमित थी, जहाँ साहित्य का मूल्यांकन मुख्यतः उसके कलात्मक पक्ष या युगीन विशेषताओं के आधार पर किया जाता था। चतुर्वेदी ने इस परंपरा का विस्तार करते हुए साहित्य को सामाजिक चेतना का दर्पण माना। विशेष रूप से संत साहित्य के संदर्भ में उनका कार्य इस बात का उदाहरण है कि साहित्यिक कृतियाँ अपने समय की सामाजिक संरचनाओं, शक्ति-संबंधों और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को अभिव्यक्त करती हैं। इस प्रकार उन्होंने साहित्यालोचना को समाजशास्त्रीय संवेदनशीलता (Sociological Sensibility) प्रदान की (Mills,1959)।

चतुर्वेदी की आलोचनात्मक दृष्टि का एक प्रमुख माहत्य यह भी है कि उन्होंने हिंदी साहित्य के अध्ययन में **'लोक'** को केंद्रीय महत्व दिया। जहाँ पारंपरिक आलोचना अक्सर अभिजात्य साहित्यिक परंपराओं पर केंद्रित रही, वहीं उन्होंने संत काव्य और लोकभाषाओं को वैध साहित्यिक और बौद्धिक अभिव्यक्ति के रूप में स्थापित किया। यह दृष्टिकोण साहित्य के लोकतंत्रीकरण (Democratization of Literature) की ओर संकेत करता है। उनका आलोचनात्मक योगदान अंतःविषयता (Interdisciplinarity) की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। उन्होंने इतिहास, धर्म, दर्शन और समाजशास्त्र के तत्वों को साहित्यिक विश्लेषण से जोड़ते हुए यह स्पष्ट किया कि किसी भी साहित्यिक परंपरा को उसके व्यापक सांस्कृतिक संदर्भों से अलग करके नहीं समझा जा सकता। यह पद्धति आधुनिक साहित्यालोचना की उस प्रवृत्ति के अनुरूप है, जो साहित्य को एक सामाजिक पाठ (Social Text) के रूप में देखने पर बल देती है।

चतुर्वेदी का संत साहित्य संबंधी अध्ययन हिंदी आलोचना में एक नए प्रतिमान (Paradigm) की स्थापना करता है। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि भक्ति साहित्य केवल आध्यात्मिक अनुभवों का संकलन नहीं, बल्कि सामाजिक आलोचना और सांस्कृतिक प्रतिरोध का भी सशक्त माध्यम है। इस प्रकार उनका रचना कर्म साहित्य को सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से जोड़ता है और यह दर्शाता है कि सांस्कृतिक आंदोलनों के भीतर भी परिवर्तनकारी संभावनाएँ निहित होती हैं। इसके अतिरिक्त, उनका लेखन आलोचना को नैतिक और मानवीय आधार प्रदान करता है। संत परंपरा में निहित समानता, करुणा और मानवीय गरिमा जैसे मूल्यों को रेखांकित कर उन्होंने साहित्यालोचना को केवल बौद्धिक अभ्यास न रहने देकर उसे सामाजिक उत्तरदायित्व से भी जोड़ा। यह प्रवृत्ति आलोचना को अधिक मानवीय (Humanistic) और समाजोपयोगी बनाती है।

अतएवं कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्यालोचना में परशुराम चतुर्वेदी का स्थान एक ऐसे चिंतक का है, जिसने परंपरा और आधुनिकता, लोक और शास्त्र, तथा साहित्य और समाज के बीच सार्थक संवाद स्थापित किया। उनका योगदान यह सिद्ध करता है कि साहित्य का अध्ययन तभी पूर्ण हो सकता है जब उसे सामाजिक यथार्थ, सांस्कृतिक स्मृति और ऐतिहासिक संदर्भों के साथ समग्रता में देखा जाए।

समकालीन प्रासंगिकता एवं भविष्य की संभावनाएं

परशुराम चतुर्वेदी का रचना कर्म केवल अपने समय तक सीमित बौद्धिक उपलब्धि नहीं है, बल्कि उसकी प्रासंगिकता आज के सामाजिक और अकादमिक विमर्शों में भी स्पष्ट रूप से अनुभव की जा सकती है। समकालीन समाज, जो वैश्वीकरण, सांस्कृतिक पुनर्संरचना, पहचान-राजनीति (Identity Politics) (Castells, 2010) और सामाजिक असमानताओं जैसी जटिल प्रक्रियाओं से गुजर रहा है, उसमें चतुर्वेदी की दृष्टि एक महत्वपूर्ण व्याख्यात्मक आधार प्रदान करती है। उनका संत साहित्य संबंधी अध्ययन हमें यह समझने में सहायता देता है कि ऐतिहासिक सांस्कृतिक परंपराएँ वर्तमान सामाजिक चुनौतियों को समझने और उनसे संवाद स्थापित करने में किस प्रकार सहायक हो सकती हैं। आज के समय में पहचान (Identity) का प्रश्न समाजशास्त्र और सांस्कृतिक अध्ययन का केंद्रीय विषय बन चुका है। जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्रीयता के आधार पर निर्मित पहचानें जहाँ एक ओर सामाजिक विविधता को दर्शाती हैं, वहीं दूसरी ओर कई बार सामाजिक विभाजन का कारण भी बनती हैं। चतुर्वेदी द्वारा पुनर्पाठित संत परंपरा समानता, मानवीय गरिमा और आध्यात्मिक लोकतंत्र जैसे मूल्यों पर आधारित एक समावेशी सामाजिक दृष्टि प्रस्तुत करती है। यह दृष्टि समकालीन समाज के लिए इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह हमें बताती है कि सांस्कृतिक विरासत के भीतर भी सह-अस्तित्व और सामाजिक समरसता के वैकल्पिक मॉडल मौजूद हैं।

ज्ञान के लोकतंत्रीकरण (Democratization of Knowledge) की अवधारणा भी आज विशेष महत्व रखती है, विशेषकर उस दौर में जब अकादमिक ज्ञान और लोक-ज्ञान के बीच की दूरी को कम करने पर बल दिया जा रहा है। चतुर्वेदी ने संत साहित्य को 'लोक की आवाज' के रूप में स्थापित कर यह संकेत दिया था कि ज्ञान का निर्माण केवल औपचारिक संस्थानों में नहीं होता, बल्कि जनसाधारण के अनुभवों और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों में भी निहित रहता है। यह विचार आज के सहभागी ज्ञान-उत्पादन (Participatory Knowledge Production) और वैकल्पिक ज्ञान-परंपराओं की स्वीकृति से गहराई से जुड़ा हुआ है। समकालीन सांस्कृतिक राजनीति के संदर्भ में भी चतुर्वेदी का लेखन मार्गदर्शक सिद्ध होता है। वर्तमान समय में परंपराओं की पुनर्व्याख्या (reinterpretation of traditions) के माध्यम से सामाजिक वैधता और पहचान का निर्माण किया जा रहा है। ऐसे में संत परंपरा का उनका संतुलित और समाजोन्मुख विश्लेषण यह प्रेरित करता है कि सांस्कृतिक धरोहरों को संकीर्ण दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि बहुलतावादी (pluralistic) परिप्रेक्ष्य से पढ़ा जाए। इससे समाज में संवाद, सहिष्णुता और पारस्परिक सम्मान की संभावनाएँ सुदृढ़ होती हैं। अवधारणात्मक परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि चतुर्वेदी का रचना कर्म अतीत और वर्तमान के मध्य एक संवादपरक सेतु का कार्य करता है। उनका लेखन हमें यह बोध कराता है कि आधुनिक सामाजिक समस्याओं को समझने के लिए ऐतिहासिक सांस्कृतिक स्रोतों का पुनर्पाठ अनिवार्य है। इस दृष्टि से उनकी विचारधारा केवल साहित्यिक महत्व तक सीमित नहीं, बल्कि समकालीन समाज के लिए एक नैतिक और बौद्धिक दिशा भी प्रदान करती है।

भविष्य की संभावनाओं की दृष्टि से चतुर्वेदी का कार्य नए शोध के लिए एक सशक्त आधार प्रदान करता है। संत साहित्य का पुनर्पाठ सबाल्टर्न, नारीवादी, उत्तर-औपनिवेशिक (Postcolonial) और सांस्कृतिक अध्ययन (Cultural Studies) जैसे समकालीन सैद्धांतिक ढाँचों के भीतर किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, डिजिटल ह्यूमैनिटीज (Digital Humanities) के माध्यम से मौखिक परंपराओं, लोक-स्मृतियों और क्षेत्रीय संत साहित्य का दस्तावेजीकरण कर इस अध्ययन को और अधिक व्यापक बनाया जा सकता है। उनका रचना कर्म एक ऐसी बौद्धिक आधारभूमि प्रदान करता है, जिस पर नए दृष्टिकोणों और पद्धतियों के माध्यम से अधिक समावेशी, बहुआयामी और आलोचनात्मक अध्ययन विकसित किए जा सकते हैं। वास्तव में यही किसी भी महान विद्वान की पहचान होती है कि उसका कार्य आने वाली पीढ़ियों के लिए नए प्रश्न और संभावनाएँ उत्पन्न करे।

निष्कर्ष

परशुराम चतुर्वेदी का रचना कर्म भारतीय समाज को समझने के लिए एक वैकल्पिक और गहन बौद्धिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है। उन्होंने संत साहित्य को केवल धार्मिक अनुभव या काव्यात्मक अभिव्यक्ति के दायरे से बाहर निकालकर उसे सामाजिक विमर्श के केंद्र में स्थापित किया। उनका रचना कर्म स्थापित करता है कि साहित्य केवल सौंदर्य-बोध (Aesthetic Consciousness) का विषय नहीं है, बल्कि वह सामाजिक संरचनाओं, सांस्कृतिक प्रक्रियाओं और ऐतिहासिक परिवर्तनशीलताओं को समझने का एक महत्वपूर्ण माध्यम भी है। चतुर्वेदी की दृष्टि का सबसे बड़ा महत्व इस बात में निहित है कि उन्होंने संत परंपरा को सामाजिक यथार्थ (Social Reality) के संदर्भ में पढ़ने की पद्धति विकसित की। उनके विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि भक्ति परंपरा केवल आध्यात्मिक मुक्ति का मार्ग नहीं थी, बल्कि सामाजिक आलोचना (Social Critique), सांस्कृतिक प्रतिरोध (Cultural Resistance) और वैकल्पिक सामाजिक कल्पना (Alternative Social Imagination) का भी सशक्त माध्यम थी। संतों की वाणी में व्यक्त समानता, मानवीय गरिमा, धार्मिक सह-अस्तित्व और नैतिक पुनर्संरचना जैसे तत्व उस सांस्कृतिक लोकतंत्र (Cultural Democracy) की ओर संकेत करते हैं, जिसकी आकांक्षा भारतीय समाज लंबे समय से करता रहा है।

समाजशास्त्रीय पाठ के रूप में चतुर्वेदी का लेखन हमें यह समझने में सहायता देता है कि किसी समाज की संरचना केवल औपचारिक संस्थाओं से निर्मित नहीं होती, बल्कि उसकी प्रतिरोध परंपराएँ, लोक-सांस्कृतिक अनुभव और सामूहिक स्मृतियाँ भी उसे आकार देती हैं। संत साहित्य इसी सामाजिक ऊर्जा का प्रतिनिधित्व करता है, जहाँ हाशिए की आवाज़ें सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के माध्यम से वैधता प्राप्त करती हैं। इस दृष्टि से उनका कार्य सामाजिक समावेशन (Social Inclusion) और ज्ञान के लोकतंत्रीकरण (Democratization of Knowledge) की प्रक्रिया को भी रेखांकित करता है। चतुर्वेदी का योगदान अंतःविषय (Interdisciplinary) अध्ययन की परंपरा को सुदृढ़ करने में भी महत्वपूर्ण है। उन्होंने साहित्य, इतिहास, धर्म और समाजशास्त्र के मध्य एक संवादपरक संबंध स्थापित किया, जिससे भारतीय समाज के अध्ययन को अधिक बहुआयामी (Multidimensional) आधार प्राप्त हुआ। उनका लेखन यह प्रेरित करता है कि सांस्कृतिक ग्रंथों को केवल अतीत की धरोहर न मानकर वर्तमान सामाजिक समझ के सक्रिय स्रोत के रूप में भी देखा जाए।

अतएव कहा जा सकता है कि परशुराम चतुर्वेदी केवल एक साहित्यकार या आलोचक भर नहीं थे, बल्कि भारतीय समाज के सूक्ष्म व्याख्याकार (Subtle Interpreter) के रूप में भी प्रतिष्ठित होते हैं। उनका रचना कर्म हमें यह बोध कराता है कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं को समझने के लिए सांस्कृतिक परंपराओं का गंभीर अध्ययन अनिवार्य है, क्योंकि इन्हीं में समाज की लोकतांत्रिक आकांक्षाएँ, नैतिक दिशाएँ और भविष्य की संभावनाएँ निहित होती हैं।

संदर्भ

1. चतुर्वेदी, परशुराम. (1951). *उत्तरी भारत की संत परंपरा*. इलाहाबाद: भारती भंडार.
2. चतुर्वेदी, परशुराम. (1951). *नव निबंध*. हैदराबाद: सर्वोदय साहित्य मंदिर; बनारस: लोक सेवक प्रकाशन.
3. चतुर्वेदी, परशुराम. (1951). *सूफी काव्य संग्रह*. प्रयाग: हिंदी साहित्य सम्मेलन.
4. चतुर्वेदी, परशुराम. (1952). *मध्यकालीन प्रेम साधना*. इलाहाबाद: साहित्य भवन.
5. चतुर्वेदी, परशुराम. (1952). *संत काव्य धारा*. इलाहाबाद: किताब महल.

6. चतुर्वेदी, परशुराम. (1953). *मानस की राम कथा*. इलाहाबाद: किताब महल.
7. चतुर्वेदी, परशुराम. (1953). *वैष्णव धर्म*. इलाहाबाद: विवेक प्रकाशन.
8. चतुर्वेदी, परशुराम. (1954). *कबीर साहित्य की परख*. इलाहाबाद: भारतीय भंडार.
9. चतुर्वेदी, परशुराम. (1956). *भारतीय प्रेमाख्यान की परंपरा*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
10. चतुर्वेदी, परशुराम. (1960). *संत साहित्य की भूमिका*. हैदराबाद: हिंदी प्रचार सभा.
11. चतुर्वेदी, परशुराम. (1961). *साहित्य पथ*. इलाहाबाद: साहित्य प्रकाशन.
12. चतुर्वेदी, परशुराम. (1962). *भारतीय साहित्य की संस्कृत रेखाएँ*. इलाहाबाद: साहित्य भवन.
13. चतुर्वेदी, परशुराम. (1966). *मीराबाई की पदावली*. इलाहाबाद: हिंदी साहित्य सम्मेलन.
14. शुक्ल, रामचंद्र. (1928). *हिंदी साहित्य का इतिहास*. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा.
15. Alexander, J. C. (2003). *The Meanings of Social Life: A Cultural Sociology*. New York: Oxford University Press.
16. Ambedkar, B. R. (1936). *Annihilation of caste*.
17. Assmann, J. (2011). *Cultural memory and early civilization: Writing, remembrance, and political imagination*. Cambridge University Press.
18. Berger, P. L. (1967). *The sacred canopy: Elements of a sociological theory of religion*. Anchor Books.
19. Berger, P. L., & Luckmann, T. (1966). *The social construction of reality: A treatise in the sociology of knowledge*. Garden City, NY: Anchor Books.
20. Béteille, A. (1965). Caste, class, and power: Changing patterns of stratification in a Tanjore village. University of California Press.
21. Blumer, H. (1969). *Symbolic interactionism: Perspective and method*. University of California Press.
22. Bose, N. K. (1953). *The Hindu method of tribal absorption*. Science and Culture.
23. Bourdieu, P. (1984). *Distinction: A social critique of the judgement of taste*. Harvard University Press.
24. Bourdieu, P. (1991). *Language and symbolic power*. Harvard University Press.
25. Castells, M. (2010). The Power of Identity (2nd ed.). Oxford: Wiley-Blackwell
26. Damodaran, K. (1967). *Indian thought: A critical survey*. People's Publishing House.
27. Dumont, L. (1970). Homo Hierarchicus: The caste system and its implications. University of Chicago Press.
28. Durkheim, E. (1897). *Suicide: A Study in Sociology*. New York: Free Press.
29. Durkheim, É. (1912). *The elementary forms of religious life* (K. E. Fields, Trans.). Free Press.
30. Foucault, M. (1977). Language, Counter-Memory, Practice: Selected Essays and Interviews. Ithaca: Cornell University Press.
31. Foucault, M. (1980). *Power/knowledge: Selected interviews and other writings, 1972–1977* (C. Gordon, Ed.). Pantheon Books.
32. Foucault, M. (1986). *Of Other Spaces: Utopias and Heterotopias*. *Diacritics*, 16(1), 22–27
33. Freire, P. (1970). Pedagogy of the Oppressed. New York: Continuum.
34. Ghurye, G. S. (1932). Caste and race in India. Kegan Paul.
35. Giddens, A. (1984). *The constitution of society: Outline of the theory of structuration*. University of California Press.
36. Giddens, A. (1991). *Modernity and self-identity: Self and society in the late modern age*. Stanford University

Press.

37. Giddens, A. (1998). The Third Way: The Renewal of Social Democracy. Cambridge: Polity Press.
38. Gramsci, A. (1971). *Selections from the prison notebooks* (Q. Hoare & G. N. Smith, Eds. & Trans.).
39. Gramsci, A. (1971). Selections from the Prison Notebooks (Q. Hoare & G. N. Smith, Trans.). New York
40. Guha, R. (1982). *On some aspects of the historiography of colonial India*. In R. Guha (Ed.), *Subaltern studies I* (pp. 1–8). Oxford University Press.
41. Guha, R. (1983). *Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India*. Delhi: Oxford University Press.
42. Habermas, J. (1984). *The theory of communicative action* (T. McCarthy, Trans.). Beacon Press.
43. Habib, I. (1963). The Agrarian System of Mughal India (1556–1707). Bombay: Asia Publishing House.
44. Halbwachs, M. (1950). *On collective memory* (L. A. Coser, Ed. & Trans.). University of Chicago Press.
45. Jullien, F. (2011). *The Silent Transformations*. London: Seagull Books.
46. Kant, I. (1784). *An Answer to the Question: What Is Enlightenment?* Berlinische Monatsschrift.
47. Marx, K. (1867). *Capital: A Critique of Political Economy (Vol. 1)*. Hamburg: Otto Meissner Verlag.
48. Marx, K., & Engels, F. (1970). The German Ideology. New York: International Publishers. (Original work published 1845–46)
49. Melucci, A. (1989). *Nomads of the present: Social movements and individual needs in contemporary society*. Temple University Press.
50. Michels, R. (1915). Political parties: A sociological study of the oligarchical tendencies of modern democracy. New York: Hearst's International Library.
51. Mills, C. W. (1956). *The power elite*. Oxford University Press.
52. Mills, C. W. (1959). *The sociological imagination*. Oxford University Press.
53. Mosca, G. (1939). The ruling class. New York: McGraw-Hill.
54. Nora, P. (1989). Between memory and history: Les lieux de mémoire. *Representations, 26*, 7–24.
55. Omvedt, G. (1994). *Dalits and the democratic revolution: Dr Ambedkar and the Dalit movement in colonial India*. Sage Publications.
56. Pareto, V. (1935). The mind and society. New York: Harcourt, Brace & Company.
57. Rawls, J. (1971). *A theory of justice*. Harvard University Press.
58. Schutz, A. (1932). *The phenomenology of the social world*. Northwestern University Press.
59. Scott, J. C. (1985). *Weapons of the Weak: Everyday Forms of Peasant Resistance*. New Haven: Yale University Press.
60. Scott, J. C. (1990). *Domination and the arts of resistance: Hidden transcripts*. Yale University Press
61. Sen, A. (1999). Development as Freedom. New York, NY: Alfred A. Knopf.
62. Sharma, R. S. (1965). *Indian feudalism*. Macmillan.
63. Singh, Y. (1973). Modernization of Indian tradition. Thomson Press.
64. Srinivas, M. N. (1962). Caste in modern India and other essays. Asia Publishing House.
65. Srinivas, M. N. (1966). Social change in modern India. University of California Press.

66. Taine, Hippolyte (1863). *History of English Literature*. Paris: Hachette.

67. Taylor, C. (1989). *Sources of the self: The making of the modern identity*. Harvard University Press.

68. Thapar, R. (2000). *Cultural pasts: Essays in early Indian history*. Oxford University Press.

69. Touraine, A. (1981). *The voice and the eye: An analysis of social movements*. Cambridge University Press.

70. Weber, M. (1930). *The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism*. London: Allen & Unwin.

71. Weber, M. (1978). *Economy and Society: An Outline of Interpretive Sociology*. Berkeley: University of California Press

72. Williams, R. (1958). *Culture and society*. Chatto & Windus.